समय का जन्म

शंकर माहेश्वरी की कविताएँ

स्वर समवेत, कलकत्ता

स्वर समवेत, 6 तनसुक लेन, कलकत्ता-700007 द्वारा प्रकाशित
भागचन्द सुराना, सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स, 205, रवीन्द्र सरणी,
कलकत्ता-700007 द्वारा मुद्रित

प्रथम संस्करण : 13 अक्तूबर 1985 ● मूल्य बीस रुपए
आवरण
कल्याण गंगोपाध्याय

श्रद्धेय एवं प्रिय श्री यमुनाशंकर चौबे को
मुझ निरक्षर को जिन्होंने साहित्य की ओर प्रेरित किया
तथा एकान्त प्रिय होते हुए भी सत्संग का सुयोग दिया।

—शंकर माहेश्वरी

समय का जन्म

परिणति

अचानक बन्दूक की आवाज आती है,
किसी वाल्मीकि की समाधि नहीं टूटती
और एक घायल चिड़िया
जमीन पर छटपटा कर
दिशाओं को समर्पित हो जाती है
अभी-अभी जिसके उन्मुक्त गीत से
मैंने अपनी सितार मिलाई थी

अच्छा हुआ
कि सूर्योदय के प्रणेता
इस रक्तपात को देखने जीवित नहीं रहे।

वर्षागम

अरे जेठ की दोपहरी के सूरज,
इतना शोषण !
सोख लिया सरवर का सारा जीवन !
ऊँचे पद पर चढ़ कर करते
इतना दंभ प्रकाश !

ठहरो,
बूँद-बूँद में संचित होकर
घिरते हैं ये पास तुम्हारे
काले-काले बादल,
गुर्राने लो लगा बवण्डर दुर्दम
तुम तो क्या,
आधार तुम्हारा
काँप उठेगा व्योम ।
बिना सलिल के
पंक विदरने से पहले ये बादल
हृदय खोल कर बरसेंगे
हाँ, बरसेंगे जल निश्चय !

सूरज की योजना

और उस दिन
झुर्रियाँ भरे हुए
बुझे-बुझे बस्ती के चेहरों से ऊब कर
भाग कर आया था राजपथ पर।

दिन के कशाघात से प्रेरित हो
भागता है महानगर
बसों ट्रामों मोटरों में
साँस लेता महानगर।
आकाशकामी अट्टालिकाएँ
उँचाइयाँ देखते हुए जिनकी

रड़कने लगती है आँख,
नीचे प्रदर्शन खिड़कियों से चलती है
गूढ़ संकेत जैसी
काम की ठिठोली ।

बारो-रेस्त्राओं में
अफसर और सौदागर
गोपन प्रस्ताव लिये
बैठे है प्रेमियों के जोड़े एकान्त में ।

टिकट घरों के सामने सिनेमा की भीड़
या फिर भीड़ के मुख देखने की भीड़ ।
यहाँ वहाँ प्रसाधन की सुवासित हिलोर
वस्त्रों के रंगों की ज्वार में गम गलत करता
लौटा जब—
बस्ती में उतरी थी शाम ।

यह क्या !
पक्षियों का शोर और बच्चों की उछलकूद
चूल्हो में उलझा धुआँ
जिसे सुलझाती औरतों की फूँक,
गाते है भजन, लोग
गप्पें लगाते कहीं
बजते हैं घण्टे या शंख ।

होता होगा योंही रोज
किन्तु मुझे लगा सब नया-नया
दिन की खुमारी थी या कल्पना का जोर
देखने लगा मैं वहाँ लोगों के चेहरे

लेकिन मुझे दिखी नहीं झुर्रियाँ उन पर
उदास मुख कहाँ गये ?

मुझमें भी आया क्या परिवर्तन
सोच यों घुमाया हाथ ज्योंही अपने मुख पर
झुर्रियों की लीकों में हा, उलझ गईं उँगलियाँ ।
सच में तो आया है परिवर्तन
मैं ही एक हतभागा जस का तस रह गया ।

हाय दुर्भाग्य मेरा ।
घर बैठे आई थी सूरज की योजना
निकलो फिर, जाओ, करो गम गलत ।
ग्लानि में न आई नींद
जागते ही हो गया भकारा ।
तभी एक आश्चर्य ।
आँखें चकरा गईं ।
जैसा था कल का दिन वैसा ही आज
बस्ती के लोग पुनः वैसे ही हो गये ।

कैसा था जादू यह
रात भर चढ़ा था
भोर होते ही उतर गया
दीनता की मूषिका ने
जैसे कुछ और पृष्ठ कुतर दिये जीवन के ।

कुछ भी हो,
योजना थी असरवाली
आखिर वह सूरज है
आकाश का नायक ।

सन्ध्याः प्रश्नचिह्न

पीछा कर दौड़ रहा हाँफ रहा अन्धकार
डरी-डरी सहमी सी
सूरज की बची खुची छायाएँ
कूद रहीं पश्चिम के सागर में।

रूपसी नहीं,
सन्ध्या यह आई है प्रश्नचिह्न बन कर

छुट्टी मिली तो
दिन भर के कर्मों को ठोक-पीट जाँचते
घर को चले पैर—
कवियों की, ऋषियों की
दर्शन-विज्ञानों की प्रतिभा का केन्द्र लिये अन्तर में
जितनी बार हाथ पैर हिले जितना कुछ किया
प्रेरक था एक मंत्र—एक शब्द गुंजित था—'उदर'
इसकी ही चिन्ता में अब तक की साँसें सब बहीं
दिन उगते जुते सन्ध्या में छुटे भी तो
माथे पर मोट लिये आगामी कल की
चलना है, अनिद्रा की रातों के कँकरीले पथ पर।

कहाँ है पिपासा इस विस्तृत सौन्दर्य की ?
किधर गई भूख-प्यास अपने ही मन की ?
प्रश्नचिह्न पथ रोके खड़ा है
पूछता है, समय कहाँ, जो कुछ सोचे, गुने,
आनन्द का जन्मसिद्ध अधिकारी
कब माँगे स्वत्व अपना ?

विवशता

रंगों की शरारत दिन रात
यह विवशता है कि
आकाश किसी से जुड़ नहीं पाता
और हवाओं में लपकती एक चीख
दिगन्तों पर आक्षेप सी टकरा कर
उलट जाती है ।

व्यवस्था

यह सच है
ईन्धन के अभाव में
चूल्हे की आग बुझ जाती है
क्या इसकी उपमा यों दी जा सकती है
कि कोई बात है
जो रंगों को आँख से बचाती है ?

लेकिन मैं किस अजनबी शहर में आ गया
जहाँ शाम होते ही
बत्तियाँ गुल हो जाती हैं
यह शायद यहाँ की व्यवस्था है
जो शहर को भीड़ से बचाती है ।

कैसे गाऊँ

दिन भर की दौड़ धूप
रातों की कँकरीली नींद
छालों से भरी हुई चाह
क्या सुनाऊँ

तपी हुई बालू में
वर्षा की बूँद एक
कैसे दिखलाऊँ

पूरब में आई जो रंगों की भोर
कितना उत्साह आह !
कितने कल-कंठों ने गाये थे गीत !
कहाँ गई लाली वह
कहाँ गया शोर
बजते हैं भोंपू अब यहाँ वहाँ
बुनते हैं धुआँ
जाले में फँसी हुई घड़ियों की व्याकुलता
गीतों में कैसे भर गाऊँ !

मनोरंजन

शिकायत सिर्फ तुमसे है मेरे दोस्त !
कि तुमने ही उकसाया था मुझे
ऊँचाइयों पर चढ़ने को
और मैं चढ़ते हुए बीच पहाड़ से गिरा ।
मेरी टाँग टूटने का कारण तुम हो—सिर्फ तुम !
माना कि मैं भी असावधान था
लेकिन क्या यह सच नहीं
कि पत्थरों को तुमने ही घिसवा कर
चिकना बनाया था
कि जब कोई चढ़े और फिसले
तो यह देख कर
तुम्हारा मनोरंजन हो ।

और यह भी क्या तुम्हारा कोई खेल है
कि अब जले पर नमक की तरह
टाँग तोड़ कर
खुद ही मरहम-पट्टी करो !
मैं ठीक भी हो जाऊँ
तो इससे क्या होगा
क्या वह साहस भी लौट आयेगा
जो एक बार चला जाता है
तो फिर छाछ को भी फूँक-फूँक कर पिलवाता है ?

प्रार्थी

प्रार्थी हूँ
जानता हूँ
अपना अमूल्य मतदान कर
इस महा चुनाव में

तुम मुझे जिताओगे
और अपनी बहस का निशान बनाओगे ।

जीत के ताप से
मैं खेतों-कारखानों की योजना बनाऊँगा
फिर तुम्हारे भूख के अरण्य में
सब्ज गुल खिलाऊँगा
खुश होकर बार-बार
तुम अपने को दुहराओगे
मुझे विजय की माला पहनाओगे
फिर-फिर बहस का निशान बनाओगे

जानता हूँ
कभी-कभी तुम्हारे नाखून बढ़ जाते हैं
लेकिन यह तो प्रकृति का नियम है
इसीलिए ज्ञान है, विज्ञान है
कि कारखानों में औजार बनते हैं,
तुम स्वेच्छा से उन्हें खरीद कर
अपने नाखून काट लेते हो ।

युद्ध में अस्त्र है तो अस्पताल भी है
अन्यथा सभी घायल मर जाते
जिलाने की कला इस कदर विकसित हुई है
कि द्रोण को अब दक्षिणा माँगनी नहीं पड़ती
एकलव्य खुद देता है ।

हाँ, तो अपने अमूल्य मतदान से
हमेशा-हमेशा तुम मुझे जिताओगे
और बार-बार अपनी बहस का निशान बनाओगे । ●

ऊधवजी

उनको तो कर बलन्द
हमको कर मन्द
छपन भोग देते वाँ
याँ देते कन्द

ओरे ओ ऊधवजी,
तुमको हम जान गये
रग-रग पहचान गये
समता की बातों में
तेरे छलछन्द !

लाट साहब की सवारी

रुक जा, रुक जा, रुक जा,
आई-आई-आई वो लो
लाट की सवारी आई

बन्द करो रास्ते
ट्राम-बस बन्द करो
गाड़ी-घोड़े बन्द करो
बाल-वृद्ध-वनिता को रोक दो
रोक दो मजूर को किसान को
खेल की ये बात नहीं
लाट की सवारी है   हाँ, लाट की सवारी
पथचारी रुक जा   कामगीर रुक जा
बीमार तू भी रुक जा
हकीम तू भी रुक जा
भागो रे भिखारियो   भागो रे कबाड़ियो
खाली करो रास्ते
डंडों से भगाओ   और हंटर लगाओ
आँसू-गैस भी चलाओ रे
जाओ जाओ जल्दी जाओ

जो भी आये सामने तो उसकी टाँग तोड़ दो
बोले तो मुंह मोड़ दो
आई-आई सायरन की सीटी आई
लाट साहब आये हैं
जनसेवी आये हैं
हमारे भाग आये हैं।

केन्द्र विन्दु

कभी खत्म न होने वाले नाटक के बीच
कांक्षा के पात्रों की भीड़ का
मंच पर चीखना चिल्लाना

मुझे मथ देता है
मैं दिवा स्वप्नों में
समुद्र की लहरों सा
उठ-उठ कर पछाड़ खाता हूँ।

मेरा हर कदम
इनमें से एक-एक के रुख का मुखापेक्षी
कोई मुझे कोसता है
कोई गालियाँ देता
कोई व्यंग करता या तमाचे जड़ देता है
सच तो यह कि ये सब के सब
मेरे विरुद्ध षडयंत्र करने में सलग्न
इनकी अभिनय मुद्राओं के बीच
मैं केन्द्र बिन्दु जैसा जड़ दिया गया हूँ।

मेरे कपाल को
कोई बर्फ की शिलाओं में गाड़ दे
दिमाग की लकीरों में रात-रात भर
रक्तचाप जैसी गुमसुम बेचैनी कोई कब तक सहे।

साम-दाम की नीतियों से हार कर
मैं हत्या पर उतारू हो जाता हूँ।

हत्या।
हाँ,
भरे मंच पर मैंने अनगिनत हत्याएँ कर डालीं
पर लोग इसे आत्महत्या कह कर टाल देते है
और मैं हताश होकर पुन: लौट आता हूँ। ●

अभ्यस्त

कुहरे ने आकाश को घेर लिया
ऐसे ही दिनों में जीने के आदी हम
धुँधले प्रकाश को मान बैठे सत्य ।

उपदेश की गुर्राती आवाज में
विदिशाओं से हवाएँ आकर
हमें दुर्गन्ध के सिवा कोई भी समाधान नहीं देपातीं
और चाय की प्यालियों में बन्द
हमारे जल प्रपात
भाप उड़ाकर
कुहासे को और घना करते हैं ।

हम मनुपुत्र
अपने पिता को नकारने में
हमें कोई संकोच नहीं होता

कुहासों और गुर्राती हवाओं से संस्कृत हम
अब हमें खुला सूरज देखना अच्छा नहीं लगता । ●

अपना लेख

बैल गाड़ी
गुड़ भरी
चलती शहर की सड़क पर।
बाल-बूढ़े, औरतें भी
अनुसरण कर रहीं उसका।
इधर टपकी बूँद गुड़ की सड़क पर
झपट कर इसने कि उसने
घिसी उँगली,
धूल का प्रतिशत अधिक या गुड़ रहा हो,
चाटती चलती
मनुज-लंगूर की यह फौज।
करुणा या घृणा कुछ भी उपजती नहीं
देख कर यह दृश्य
मैं छत पर चला जाता।
चीर कर आकाश
तभी कोई अनदिखा सा सरसराया
दूसरे ग्रह का रहस्य उधेड़ने को
कहा लोगों ने कि यह रॉकेट।
सुना, देखा
किन्तु कुछ उत्साह या विद्रोह
मुझमें नहीं जागा।
पत्रिका लेकर गया मैं चायखाने
चुस्कियाँ लेता हुआ पढ़ने लगा
अपना लिखा वह लेख।

सांस्कृतिक आमोद

गली हुई हड्डियों को निचोड़ कर
भरी बोतलों की शराब
ढलती है क्लबों-रेस्त्राओं में
गिलासों पर उभरे झागों के अनुनय को
कोई भी तो नहीं समझता।
एक खूँख्वार वेग सबों की धमनियों में उबलता है।
व्यक्ति से ब्रह्माण्ड तक के विषयों से उठते
तर्क के तूफान को झेलता है सिगरेट का धुआँ।
अगल-बगल, आमने-सामने
विषम-लिंगों को आँखों ही आँखों में
पी जाने की सामिष ललक
आँखों के कातर संकेत
मुस्कानों का विनिमय
प्यार के पिछले उलाहने
और आगे के प्रस्तावों के बीच—
'बैरा, एक बोतल और'।

शोर की एक गगनचुम्बी अट्टालिका
जिसकी नींव की कोई भी चीख
जब कभी उठती है
तो अट्टालिका से टकरा कर
पुनः नींव ही को लौट जाती है
और
कुछ बोतलें और ढल जाती हैं।

अर्थ

"सुखी रहो बेटे"
फूल-फल-अन्न वाली भाषा में
माँ ने असीसते कहा था यह ।

उलझ गये भाषा में
और फिर
अर्थ पर अर्थ करने लगे
लक्षणा-व्यजना की शक्तियों से
बहुतों को काटते-छाँटते
अलकार युक्तियों से
नये अर्थ गढ़ते रहे ।

बात थी पानी वाली
मा ने कही थी जो
धरती तो सींची नहीं उससे
बंजर पर अर्थ की खंख ही उड़ाते रहे ।

सुविधा के टुकड़े

एक गज यूथ मटकता हुआ चलता है
चिड़ियाखाने का शेर कसमसाता नहीं
सिंह को यह क्या हो गया
लगता है
सुविधा के टुकड़े उसके संस्कार बन गये।

●

नींद बिखर जाती है

अपनी ही अनेक आकृतियों से जूझने की थकन लिये
रात के सन्नाटे में जब अपने को ढील देता हूँ
तकिये में सिमट आया महानगर का कोलाहल
कान के परदों से टकरा कर
आकृतियों में बदल जाता है।

आकृतियाँ चीखती हैं
स्वर से बिछुड़े व्यंजनों की तरह चीखती है
इन्हीं आवाजों में मेरा कुछ खो गया है।
मैं घूर्णिवात सा पागल हो
उसे खोजता हुआ दौड़ता हूँ
अपने वृत्त के एक से दूसरे कोने तक।
घूर्णिवात से भी तो शब्द होता है
जो हथौड़े की तरह
दिमाग की जाने किन विधाओं को गढता है
कि चोट खाकर तनी हुई नसें
और सख्त हो जाती हैं
उन्हें रेती से सँवारने की प्रक्रिया में
नींद भूरे सी बिखर जाती है।

उल्लू का गीत

अँधियारे में जीने की सुविधाएँ मुझको
मैं क्यों चाहूँ दिन का शोर
मुझको नहीं चाहिये भोर

दिन की पहली किरण उत्तर कर जब आती है
मेरी आँखें बुझ जाती हैं

तब मैं सुनता खिचखिच केवल खिचखिच
घर में खिचखिच, बाहर खिचखिच,
तमतम करता ऊपर सूरज
नीचे आग उगलतीं सड़कें,
ऐसे में मृगजल को जाते
जो जाते, लू पीकर आते
लू का रंग सुरा से जोर
तन-मन को देता झकझोर।

घानी में जुत जाते बैल
थोड़ा सा भूसा पाने को
देते चक्कर केवल चक्कर
जब थक जाते
चाबुक खाते
क्या मजाल जो चूँ कर जाये
चूँ का सुर तो घानी गाये
जहाँ जिधर यह घानी गाये
तिल का तेल उधर बह जाये
घास-फूस जो कुछ मिल जाये
खा-पी बैल वहीं सो जाये।
इस घानी में उस घानी में
केवल जुते हुए हैं बैल
ऐसा है यह दिन का खेल।

इससे जो भी बचना चाहें
वे चाहे अँधियारा घोर
उनको नहीं चाहिये भोर
मैं क्यों चाहूँ दिन का शोर।

रफ्तार

मैं जैसे कोई गेंद हूँ
पृथ्वी ग्रह नक्षत्रों में फैले अनगिनत हाथ
मुझे एक लोक से दूसरे लोक पर उछाल देते हैं ।

इतिहास के पीछे
अतीत की अजानी गहराइयो में उतर रहे हैं मेरे पिता

कल्पना से परे
रास्ते पर रास्ते तय कर रहा है मेरा पुत्र
दोनों की गति का गुरुत्वाकर्षण
मुझे अपनी ओर खींच रहा है
मैं अखंड काल की तरह स्थिर हो गया हूँ
और गति से गति को लाँघता हुआ
हर बार अपने को नयी दुनिया में पाता हूँ ।

घड़ी भर रुक कर मैं किसी से परिचय करूँ
यह संभव नहीं
और कोई भी शिलापत्र
मेरी आत्मकथा छापने को तैयार नहीं ।

अजनबी से अजनबी की यात्रा में
मैं कौन हूँ, क्या हूँ,
क्यों एक मण्डल से दूसरे मण्डल को
लोका दिया जाता हूँ
और ऐसे ही कुछ प्रश्न
जब कभी पूछ बैठता हूँ
तब तक मैं किसी दूसरे खण्ड पर पहुँच जाता हूँ
और मेरा संगणक
मुझसे बुरी तरह पिछड़ जाता है ।

सृष्टि या काल
ओह,
ये कहीं गोलाकार निकले
और मेरे पिता और पुत्र
भागते हुए एक-दूसरे से कहीं टकरा गये—
हे राम !

खुश हूँ

मैं खुश हूँ
मिट्टी के लिए जल की एक-एक बूँद को
अपने रक्तकण से ज्यादा प्यार करता हूँ
कि बच्चों के चेहरों पर
मुस्कान की लकीर देखने को
खेत के नतीजे तुम्हारे पक्ष में लिखकर खुश हूँ।

कोयला खान की गहरी निचली सतहों में उतर कर

जमती हुई साँस को पसीने से गलाता हूँ
अँधेरे में अँधेरे के टुकड़े काटता हुआ
खुद अँधेरा हो जाता हूँ
इन्हीं स्याह टुकड़ों से
तुम्हारी जिन्दगी को प्रकाशमय देख कर खुश हूँ ।

पेट की आग जब ऊँचे तापमान पर होती है
तो गल गल कर इस्पात ढलता है
एक सपना मेरा भी पलता है
और तुम्हारी यांत्रिक सभ्यता के
चढ़ते हुए तेवर को देखकर खुश हूँ ।

निरन्तर दूर होता जा रहा है एक आकाश
कि भूख की आवाज बिना टकराये
क्रमशः छीजती हुई कहीं बीच में ही खत्म हो जाती है
लेकिन तुम्हारी अन्तर्जागतिक उड़ानों से
भूमण्डल के क्रमशः करीब आते
आकाश को देखकर खुश हूँ ।

तुम्हें फूलता-फलता देखकर खुश हूँ
गरमी में तुम्हारे वातानुकूल की जगह
अपनी फूस वाली झोंपड़ी की नैसर्गिकता देखकर खुश हूँ,
शीतलहरी में तुम्हारे रेशमी वस्त्र की तरह
अपने परिवार की देह को सिहरते देखकर खुश हूँ ।

शहर के रास्ते पर उस सजी सँवरी औरत की तुलना में
अपनी पत्नी को तन्वंगी देखकर खुश हूँ,
खिलौनों के लिए
अपने बच्चों को लड़ते-झगड़ते देखकर
उनके दम खम पर खुश हूँ ।

कहिये जी

कहिये जी कैसे हैं
कुछ बदले
या पहले ही जैसे हैं ?

द्वार पर उगे हैं नीम पीपल बबूल
क्या घर में खिले हैं जूही-बेले के फूल ?
ये ही जब नहीं हुए
तो क्या हुआ जो घर बड़ा हुआ आपका
व्यर्थ ही नसाया फिर प्रकाश को बतास को ।

इससे तो हम ही हैं अच्छे,
छोटा है तो है,
दीवारें भेद कर
घर में कुछ अंकुर तो आये हैं
धरती को सभवा बनाये हैं !

देवपुत्र

हमने उन देवपुत्रों को
अपना सब कुछ सौंप दिया
जिनके हाथो में हमारा अहम् खतरे में है ।

वे आस्तीन का साँप और अपने मुँह मियाँ मिट्ठू
दोनों उपमाएँ एक साथ झेलते हैं ।

हमारी अन्तःसलिलाओं के सामने
अस्तित्व के प्रश्नचिह्न जड़ दिये गये हैं ।
हमारा प्रत्येक पग-विन्यास
उनके उद्घाटन की अपेक्षा रखता है ।

नदी की एक धारा में
बाँध पर बाँध खड़ी कर
वे हमें विभाजित जीवन का संस्कार देते हैं
और हमें युद्ध की गलियों में भटका कर
हमारी भावी पीढ़ी के बीज तक
नष्ट करने पर उतारू हैं ।

धरती रो न दे

ओ अन्तरात्मा के आलोक
देख
आज मेरी प्यारी धरती की
विवशता से भरी आँखों में
उमड़ती करुणा का वेग!

ये खिलते हुए नन्हें फूल,
ये नाचते हुए शीतल झरने,
शिराओं में बहता रक्त,
साँसों का अबाध प्रवाह,
ये सब शकित हैं युद्धोन्माद की क्रीड़ा से ।

ओ अन्तरात्मा के आलोक,
सुन
हरे भरे जीवन पर
अकड़े हुए अहम् के घर्षण से उत्पन्न
अनस्तित्व का शृङ्गीनाद,
भंग कर दे अपनी नीरव समाधि
तुम्हारा रुद्र रूप
तुममें आकार धारण करने को प्रस्तुत है
ताण्डव की ताल देने के लिए
तुम्हारे डमरू में
डिम-डिम का आरंभिक कम्पन है,
इस विवादी स्वर को
विस्मृति की लोरियाँ देकर
सुलाने की चेष्टा न कर
इसे अनिद्रा की शिकायत है ।

उठ
अपने नृत्य के आवर्तन में
इस दांभिक हुंकार के हलाहल को
पीकर हजम कर ले ।
तुम्हें मेरे अस्तित्व की शपथ है
देख, मेरी प्यारी धरती कहीं रो न दे ।

पिंजड़े का जीव

ओ पक्षी,
पिंजरे में बन्द हो गये हो
आँखों में कैसी यह छाया है
फैला हो जैसे आकाश
आती क्या वनवासी जीवन की याद ?
तब भी तुम गाते हो
गीत ये हिलोर भरे
किसको सुनाते हो,
मुक्ति की अर्चना है क्या यह ?

एक जीव मैं भी हूँ पिंजड़े का
खाता हूँ टुकड़े जो पाता हूँ जूठन के
इनकी ही खातिर जोहता हूँ बाट
ढलते हैं सारे क्षण पल में ।

ओ पिंजरे के पक्षी,
मैं भी हूँ सहधर्मी
थोड़ा-सा मुझको भी दोगे आकाश ?
और
जैसी तुम गाते हो
वैसी एक गीत की लड़ी ?

बर्फ की डसन

इस नदी को क्या हुआ
कि सँकरे कगारों में सिमट कर रह गई
इसके स्रोत सब सूख गये
या किसी बर्फ ने डस लिया
इसमें क्यों नहीं जगता
दिगन्तों तक फैल जाने का ज्वार
कोई भी पवन इसके स्पन्दनों में पैठ नहीं पाता
इसके अहम् को कोई लहर कुरेदती क्यों नहीं
दिन भर के सूरज को कोई भी किरण
अँधेरे विस्तार पर कहीं तो चुभी होती । ●

शंख

शख क्या अब भी न फूँकोगे मित्र ?
ऊमस में घुट-घुट कर
अब तक तो काट दिया घिसा पिटा समय
उबकने लगा है
सुबक-सुबक कर बहुत रोया मन
चेतना पर लद गई है जड़ता की अमरबेल
सब कुछ भूल कर स्वय को भूल जाना
पीड़ा के डंक सहकर भी
भटक कर शून्य में जा
जीवन का शून्य बन जाना

अपनत्व को नोचने के लिए
गिद्धों की घात दिन-रात
उदासी का अँधेरा पैठ गया
अनागत की दूरियों तक
एक ऐसा अजाना भय
कि कुंठित आत्मा तक
सहम कर काँप जाये

शंख क्या अब भी न फूँकोगे मित्र ?

गीत खो गये

आये हो जब मेरे पास
इतनी जल्दी क्या है
कुछ तो रुको
करें सुख-दुख की बात

मेरी 'वक-वक' से डर कर तुम
कतराने की सोच रहे ?
लेकिन मैं क्या करूँ बन्धु,
बस यही बचा है मेरे पास ।

इस बक-बक ने बना दिया है
मेरा जीवन रेगिस्तान—
जगती के परमाणु खड से
ब्रह्मज्ञान तक की बातें
करता रहता
खोज-खोज कर दोष सभी के दिखलाता हूँ
नित्य नयी योजना सुधारों की उपजाता
राजनीति का एकछत्र ज्ञाता मै ही हूँ
इन्कलाब की आँधी का प्रेरक मैं ही हूँ
मेरे ही मन्त्रों से होती विप्लव की सारी हलचल
जब-जब क्रान्ति कलान्त हो जाती
मैं हो पुनरुद्दीपित करता
उसकी शिथिल हुई काया को।

कवि हो, कलाकार अथवा ज्योतिर्विज्ञानी
आध्यात्मिक हो, वैज्ञानिक हो
कोई नेता, अभिनेता हो
मेरे सम्मुख कोई भी जब आ जाता है
सूरज से भी प्रखर प्रखरतर
मेरा ज्ञान, तपाकर मेरी मरु धरती को
लुएँ उठा कर
जिस तिस को बस झुलसाता है।
आये हो जब मेरे पास
इस 'बक-बक' से कैसे बचूँ,
बताओ मुझको
बना रही जो मेरा जीवन रेगिस्तान
तब से

जब से मेरे वे सब गीत खो गये
तुमने जितने दिये प्यार से मुझको ।

कहाँ गये वे मेरे गीत
मेरे अनजाने ही कैसे
एक-एक कर बिला गये वे प्यारे गीत ।
मेरे वे जीवन के साथी
विश्वकामना भर कर मुझको उकसाते थे ।
प्रिय का चुम्बन पाकर जैसे स्वरमय होती प्रिया
देख मेघमाला मयूर ज्यों नर्तनमय हो जाता
वैसा ही संगीत भरा मैं
खुले फूल सा
सौरभ बितराने को आकुल
बाँह पकड़ लेता समीर की ।

उन गीतों से मुक्त विहग सा
सूरज की अगवानी करने
पंख खोल जब उड़ा
गगन का सूनापन कुछ कम हो जाता ।

कर्कश शब्दों से चिल्लाती
जीवन में अब धूल भरी आँधियाँ आ गईं
चले गये वे सारे गीत ।

आये हो जब मेरे पास
सम्भव हो तो
एक-आध भी दे दो मुझको
जैसे तुमने कभी दिये थे
अपनेपन के प्यारे गीत ।

किसलिए

बन्धु,   किस गहन गुहा में बैठे
कभी-कभी अनजाने स्वर में जाने क्या कह देते
मन की कितनी तहें चीर कर
झलक मारती बिजली की लिपि में
कुछ लिख देते हो

पर मैं मूढ़, अशिक्षित
कुछ भी समझ नहीं पाता हूँ
अथवा बन कर ढीठ
जानकर भी नकार जाता हूँ ।
इस स्वर-लिपि के अर्थ सहन की
शक्ति नहीं है मुझमें
यह भी सच है
अनसमझे की ग्लानि बहुत है मन में

किन्तु विवशता के दासों के भाग्य लिखी बेगारी
अजगर की निश्वास खींचने को तत्पर लाचारी

तब यह व्यर्थ प्रयास किसलिए
केवल उद्बोधन का
पवन नहीं दे सके बन्धु यदि
जल को आन्दोलन का ।

दुहराने दो

मुझे गाने दो
युक्तियों की शृङ्खला
जिसे बाँध नहीं पाई
मेरी उस विवशता की कसमसाहट को
लोरियाँ सुनाने दो।

अरण्य के सन्नाटे को तोड़ देता है
एक क्रन्दन—

वह मेरा है
पर और तो और
वह मुझसे भी अनसुना रह जाता है
उस अनसुने क्रन्दन को आँच देने को
मुझे अपने को बार-बार दुहराने दो।

●

शब्द और प्रश्न

आकाश के शिखर से
अँधेरे का प्रपात झरता है
और नदी बनकर
तटवर्ती भूमि को प्रभावित करता है
नदी, जिसकी धारा इतनी खर है
कि स्पर्श, रस, रूप, गन्ध
सब अन्तर्हित हो गये हैं,
सिर्फ एक शब्द है
जो चिल्ला कर अपने अस्तित्व की घोषणा करता है
शब्द—एक विशिष्ट शब्द
जो दूसरे शब्दों को अपनी ऊँची आवाज से
अप्रकाशित कर देता है
जैसे कोई निःशब्द हवा
जिसकी ध्वनि के आतंक से
पत्ते सूख कर झर जाते है
और जो कुछ बच जाता है
वह जैसे पेड़ नहीं, कंकाल की कतार हो।

प्रश्न हो सकता है
कि सब ठूँठ हो गये
या कहीं कोई स्पन्दन भी बचा है।
ऐ वसन्त ऋतु की कोयल
क्या तू इसका उत्तर दे सकती है?

आस्था

तुम कुछ भी कहो
पतझर की डाल कब तक सूनी रहेगी
दिगन्तों से शब्दहीन आवाज आती है
अब पलाश सुलगेंगे।

कोई भी चोंच खाली नहीं होगी,
रहने को झुरमुट
और उड़ने को आकाश
वसन्त के रंगीन मर्म के गीतों से बेचैन हवाएँ
अपने रेशमी आँचल सँभालने में हाँफती हुई
सूनी घाटियाँ छान डालेंगी।

सच,
इस बार होली पर
हम रंग खेलेंगे।

सहचरी

रोको मत टोको मत
चलता हूँ चलने दो मुझको

गति मेरी जीवन की सहचरी
प्राणों की प्राण

छूता हूँ प्रेरणा की देहलता इसकी जब
जग जाती चेतनता नस-नस में इसके
और यह चेतनता उत्तेजित कर देती
मेरे दृढ़ चलने के संघर्षी पौरुष को।

माना, तुम हाथों में आलस का प्यार लिये
आँखों में तन्द्रा का शीतल शृंगार किये
तम का कटाक्ष कर कहती हो मुझको,
'आओ प्रिय मेरी चिर सूनी इन बाहों में
विस्मृत हो हम दोनों खो जायें चाहों में'

किन्तु री सूपनखी, मायाविनि!
चलने न पायेगी मुझ पर ये मनुहारें।
देखती नहीं हो तुम?
प्रिया प्रकृति साथ मेरे गति की यह सीता है
अन्तहीन जीवन की मेरी प्रिय गीता है।
इसका ही स्नेह वह
जिसके बल चलता जब
मेरे इन पैरों की आहट सुन
खुल जाते सीमा के द्वार दुर्जेय स्वयं

इसीलिए कहता हूँ
सुन ले ओ सुरभि-शेष,
जर्जर प्राचीन अगति,
यौवन की मस्ती की तालों पर
चलते इन पैरों को
रोको मत टोको मत।

ज्वालामुखी

खिची थी बहुत दिनो के बाद
निकष पर सोने की रेखा
यहाँ तक तो हमने देखा।

तभी किसी की लोलुप आँखें
मुख में भर कर लार
अँधेरा बिखराने को चलीं
सुबह की चहल पहल से कहा कि
बक-बक बन्द करो
और सिर्फ चुपचाप देखते रहो
हमारी मतवाली काली काली आँखों में
इन्हीं से फूटेगा मध्याह्न
घेर लेगा आकाश।

अनुशासन के दर्प भरे शब्दों से
चुप हो गया प्रतीक्षा पाकर
नया-नया उत्साह।

टकटकी बहुत दिनों तक लगी,
प्रतीक्षा रही प्रतीक्षा।
आकांक्षा को जड़ने लगे घुटन के ताले,
घिरने लगे व्योम मण्डल में बादल काले।

उमस से उकताकर यदि विद्रोही मुख खुले
समझ यह कूटनीति की चाल
बाँध दी मुख पर पट्टी
रहे ना बाँस, बजेगी बंसी कैसे।

किन्तु उमस जब व्यथा बनेगी
बहुत सँजोई आग
लहर कर धधकेगी जब
कौन रोक लेगा तब
ज्वालामुखियों का विस्फोट? ●

संभावना

ये
जो मुट्ठियाँ तान कर
गीत गाते हुए
जुलूसों में आते हैं
यह शायद मेरा कोई सामूहिक रूप है
जो पक्षियों के झुण्ड सा
आकाश में पंख फड़फड़ाता है
और मुझमें भोर की संभावना जगाता है। ●

समय का जन्म

एक प्रार्थना उठती है अपने प्रति
अब मैं पुनर्जन्म चाहता हूँ।

अपने को एक वृक्ष का फैलाव देने की योजना में
उसी को आधार भूमि के एक टुकड़े को सींचने का उपक्रम
यौवन के उमगते क्षणों को निचोड देता है
आह। वह वृक्ष बौने का रूप भी न हो सका।

कौन जानता था
दिवास्वप्नों की तुष्टि
अँधेरे में कुंठा और घुटन का गद्य रचती रही
मेरी विवशता
लोगों के मुंह से नाम पाकर
स्वयं मेरी दुर्बलता बन गई।

आवर्जना सा
समुद्र की लहरों द्वारा
किसी अजाने तट पर पटक दिया गया मेरा अस्तित्व
टुकडो में बिखरता मेरा व्यक्तित्व
राजकीय योजनाओ को आधार देता है।
मेरी दशा सुधारने के उत्साह में
कितने महत्वाकांक्षी नेता मन्त्री बन गये।

जाने किन षडयत्रों से गुजरता हुआ
आज लॉटरी के टिकटों के परिणाम देखता हुआ
हर नया दिन बिता देता हूँ
और साँझ की उदासी में घुल कर
रात के अँधेरे में ढल जाता हूँ।

मेरे भीतर देसी साहबों ने पड़ाव डाला है
वे अजनबी-अफसरी भाषा में
जाने क्या गुर्राते है
कि मेरा भारतीय गँवारूपन
अपने को कुछ भी समझने में असमर्थ पाता है।
शायद कुछ बने
इस अन्दाज में तलवे चाटने पर भी

उनकी बेरुखी देख
मेरा पशु
उनके उपसे हुए मुख पर अपने पंजे गड़ा देता है ।

उधर
मुट्ठियाँ तनी जुलूसों के आयोजकों की
करुणाहीन विलास परस्ती का
प्रतिलाभ लोभ सा फैलते जाना
कि नेजे में अब नोक नहीं होती ।

सरकारी और विरोधी दलों की धोंगामस्ती ने
मुझे कहीं का नहीं छोड़ा ।
पसीने की प्रेरणा से लहलहाती फसलों पर
हिमशिला बन बरस जाने की
भावभूमि तक की यातनाऐं मुझे झेलनी पड़ीं ।

कोई रक्तबीज
मेरी आत्महत्याओं के सिलसिले में जम गया है ।

मेरे अचेतन मन की पहाड़ियों से टकरा कर
एक करुण आवाज
प्रतिध्वनि में
दुगने-तिगुने वेग से चीत्कारती है ।
थकी हुई पुकार का मर्म
कोई द्रौपदी ही समझ सकती है ।

मेरी आत्मा में
वेदना की नयी हिलोर उठती है
कोई नीरव शब्द मुंह खोलना चाहता है
शायद मुझमें एक ज्वालामुखी करवट ले रहा है ।

पूर्णाहुति की भैरवी

तुम कोई शेर तो नहीं हो
सिर्फ कागज के टुकड़ों की पैंतरेबाजी मे उत्तीर्ण हुए
और इनाम में एक कुरसी पाकर
हाथ में कलम लिये मंच पर दहाड़ते हो
कि इतनी सारी वनस्थली काँप जाती है
आतक से पत्र-पुष्प-फल चू जाते हैं
कि क्षुधाग्रस्त देश गिडगिड़ाता है
और समय का ककाल जहाँ-तहाँ हाथ फैलाता है।
रेडियो, अखबार और चमचे
तुम्हारी आवाज को पकड़ कर दुहराते, तिहराते हैं
लेकिन हर धातु चुम्बक से नहीं खिचती मेरे दोस्त,
मेरी शिराओं के प्रवाह में
प्रतिक्रिया वन कर बजती है बात,
कोई अनमनीय प्रभंजन
क्षुब्ध कर देता है सागर की अतल गहराइयाँ।
कोई पूछता है, इतनी भोड़ क्यों है
कोई कहता है कि आज लहरों का नाच है
साथ में गाना भी— बजाना भी
जाग सकते हो तो इधर आओ
नहीं तो वापस लौट जाओ।
लोग कहते है कि सुबह की किरण
जब पूर्णाहुति की भैरवी गायेगी
तब ये लहरें लोट कर जायेंगी।

श्यामा का नृत्य

रेडियो, दूरदर्शन और अखबारों की आदत हो गई है
कि वे हर रोज
नये-नये इन्द्रधनुष उछालते हैं
और हम चटखारे ले-लेकर
रंगों के स्वाद को उचारते हैं ।

बादल जो आते हैं
इनमें सिर्फ रंगों का बदलाव है,
शायद ये किसी ताप से नहीं बने
इसीलिए न तो वज्र, न विद्युत्
न इनमें कड़क के साथ
समवेत स्वर में झमझमाते हुए
टूट पड़ने का उछाह है ।

शराब के अनेक रंग होते हैं
जो रात की योजना में ढल कर
इन्द्रधनुषों में बदलते हैं
जबकि अलग-अलग बिखरे हुए बेचारे तारे
अपने-अपने केन्द्रो में घुट-घुट कर जलते हैं ।

श्यामा-निशा के घने काले केश
हवा में खुल-खुल कर फैलने लगे है
मस्ती का ज्वार

लहरें लेने लगा है उसकी नस-नस में
और उसके चरणों में
उमड़ा हुआ नृत्य का आरंभिक कम्प
पत्ते-पत्ते पर शब्दांकित हो रहा है।
उत्सव-मुखर महानगर
द्वारस्थ शब्द सुनते नहीं
मुग्ध हैं वे अपनी ही छवियों पर।

सन्नाटा बजता है ताल दे नगाड़े-सा
और ये चरण-चरण
द्रुत से द्रुततर लय में
पड़ते हैं अँधेरे की छाती पर
अन्धकार सागर में
आन्दोलन-आलोड़न
उठ-उठ कर महोर्मियाँ
आपस में गुँथ-गुँथ कर
अपनी ही अकड़न से खुद ब खुद टूटती हैं।
आह, यह नृत्य !
श्याम अंगों से पंख जैसी खुल पड़तीं
लपटें ये आग की
घेरने को विश्व जैसे
छूटतीं चिनगारियाँ !

अँधेरे में ही सधती है लय महानृत्य की
टूटी लय कि निकली जीभ
सूर्य जैसी लाल-लाल
नींद टूटने पर ज्यों
दिख पड़ता है सकाल।

शरद की भोर

बादलों से जूझती अब तक रही जो
यह किरण तम चीरकर निकली गगन से
रक्त से ज्यों सनी असि की चपल धारा
कमल-मुख पर दीप्ति प्रतिबिम्बित विजय की ।

रात के फूले कुमुद निज को छिपाने
भाग, अपने वृन्त तल में खोजते हैं आड़
मौन होकर भी सजग, जो हंस थिर थे
फड़फड़ाये पंख तो, सब उड़ गये वे
इन्द्रधनु के रंग चटकीले कहीं नारो सरीखे ।

धान के मन के कनक के मर्म को उकसा रही जो
ओ प्रथम परिचय शरद की किरण,
मेरे मर्म में भी चुभो
मेरे रक्त से कुछ और पाओ रंग गहरा
स्वागतम् लिख-लिख उड़ाता जा रहा हूँ
श्वेत घन केतन गगन भर में ।

तुम इतनी सुन्दर तो नहीं थी

भोर,
तुम्हें कितनी बार देखा
पर इतनी सुन्दर तो नहीं थी तुम ।

मैं किसी अँधेरी कोठरी के बन्दी की आँख
और तुम !
सहसा उपस्थित ज्यों मुक्ति का कगार,
मैं अवाक !
भोर तुम इतनी सुन्दर तो नहीं थी !

तुम्हारी देह पर ये रक्त के छींटे
सच
कितनी गरिमामयी लगती हो तुम
मैं ही क्यों
ये फूल—ये पक्षी
सभी तो कहते हैं
भोर तुम इतनी सुन्दर तो नहीं थी ।

यह हलचल
यह शोर
सब कुछ थे फाइलों में बन्द
तुमने यों तोड़ दिये फीतों के डोर
हवा आज खुली-खुली बहती है
और तुम इतनी सुन्दर तो नहीं थी ।

●

शंकर माहेश्वरी

की

अन्य प्रकाशित पुस्तकें

- कणिका (कविता संग्रह)
- ठंडा आदमी (उपन्यास)